Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'यज्ञोपवीत' वैदिक-संस्कृति का मौलिक चिह्न है

-राजवीर शास्त्री

आचार्य का लक्षण

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥
(मनु॰ २।१४०)

अर्थः- (यः) जो (उपनीय तु) यज्ञोपवीत संस्कार कराके (शिष्यम्) शिष्य को (सकल्पं च सरहस्यम् वेदम्) कल्पसूत्रों से प्रारम्भ कर वेदान्तसहित=आध्यात्मिक ज्ञान सहित चारों वेदों का (अध्यापयेत्) अध्यापन अर्थ सहित पढ़ावे, (तम् आचार्यम् प्रचक्षते) उसको आचार्य कहते हैं ॥

यज्ञोपवीत संस्कार कब करायें?

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥
(मनु॰ २।३७)

अर्थः- जिसको शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार (व्यापार) करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हों तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पांचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म वा गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें ॥

(सं॰ वि॰ उपनयन॰)

उपनयन की अन्तिम अवधि

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते।
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥
(मनु॰ २।३८)

अर्थः- (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण के बालक का सोलहवें वर्ष तक, क्षत्रिय के बालक का बाईसवें वर्ष तक, और वैश्य के बालक का चौबीस वर्ष तक यज्ञोपवीत अवश्य करवा लेना चाहिए। (यह यज्ञोपवीत कराने की अन्तिम सीमाएँ हैं।)

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥
(मनु॰ २।३९)

अर्थः- इन पूर्वोक्त वर्णों के समय पर यज्ञोपवीत संस्कार न होने पर तीनों ही वर्णों के बालक यज्ञोपवीत से पतित होने से आर्यों के द्वारा निन्दित होते हैं और वे व्रात्य= (व्रतों से पतित) कहलाते हैं।

जो मनुष्य यज्ञोपवीत धारण नहीं करता है, अथवा धारण करके इस का प्रमादवश परित्याग कर देता है, उसे मानव-धर्म शास्त्र में सावित्री-पतित 'व्रात्य' नाम से कहा है। यथार्थ में इस सूत्र को इतना महत्त्व क्यों दिया गया है, क्योंकि इस सूत्र के धारण करने वाला व्यक्ति वैदिक संस्कृति का सच्चा उपासक बन जाता है, और यह संस्कृति ही वह पावनतम संस्कृति है, जो मानव को दानवता से बचाकर उस का सर्वाङ्गीण-विकास का सन्मार्ग दिखाती है और मानव को परम पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति कराती है। इस व्रत-सूत्र को धारण करते समय जो मन्त्र बोला जाता है, उसका प्रत्येक शब्द एक विशेष भाव से अनुस्यूत होने से यज्ञोपवीत की यशोगाथा को प्रकट कर रहा है। यज्ञोपवीत-मन्त्र इस प्रकार है-

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥
(पार॰ गृ॰ सू॰ का॰ २। क॰ २। सू॰ ११)

(१) **यज्ञोपवीतम् का अर्थ**-इस मन्त्र में 'यज्ञोपवीत' शब्द का दो बार पाठ है। और जब वैदिक भाषा में दो पर्यायवाची शब्दों का एक मन्त्र में प्रयोग होता है, तो उसमें एक शब्द विशेषण होता है, दूसरा विशेष्य। अन्यथा समानार्थक एक से अधिक शब्दों का प्रयोग निरर्थक होता है। इसी नियम से प्रथम 'यज्ञोपवीत' शब्द विशेषण के रूप में यहां प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है-यज्ञाय उपवीतम्=यज्ञोपवीतम् अर्थात् इस सूत्र को यज्ञ करने के लिए धारण किया जाता है। यज्ञ शब्द के तीन अर्थ व्याकरण में किये हैं- देवपूजा, संगति-करण और दान। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इस सूत्र को धारण करने वाला देवों की पूजा करना चाहता है। वह व्यक्तिगत जीवन में दिव्यगुणों का उपासक बनकर समस्त शारीरिक, वाचिक और मानसिक दोषों को छोड़कर इन में दिव्यगुणों का संयोग करना चाहता है। किन्तु मानव सामाजिक प्राणी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, उसका विकास सामाजिक वातावरण में ही होता है। यदि मानव का वातावरण दिव्यगुणों से ओत-प्रोत नहीं है, तो वह कभी भी गुणों का आराधक नहीं बन सकता। और मानव के जन्म-समय से लेकर पूर्ण विकास होने तक और इसके बाद भी उत्तम वातावरण को देकर सन्मार्ग का दर्शन करने वाले पांच देव हैं, जिनके विषय में प्राचीन काल में 'पञ्चायतन पूजा' शब्द का प्रचलन होता रहा है? और शास्त्रों ने इन पांच देवों का सम्मान करने के लिए निरन्तर उपदेश दिये हैं-

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावना।

(अर्थात् परमदेवों के देव ईश्वर का नाम ओ३म्' है, उसी का जप प्रतिदिन करना चाहिये।) और जो इन देवों की पूजा नहीं करता है, वह व्यक्ति कृतघ्न होता है। और कृतघ्नता जीवन का सब से महान् पाप होता है, जिसका कोई प्रायश्चित्त भी नहीं है। महर्षि वाल्मीकि इस विषय में कहते हैं—

गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्नस्य नास्ति निष्कृतिः॥

अर्थात् कृतघ्नता गाय की हत्या, मद्यपान करना, चोरी करना तथा व्रतों को भंग करना इत्यादि पापों से भी बड़ा पाप है। क्योंकि इन पापों के करने पर शास्त्रकारों ने प्रायश्चित्तों का विधान किया है। किन्तु कृतघ्न के लिए नहीं। इस कृतघ्नता दोष से बचने के लिए ही हमारे पूर्वजों ने इन तीन सूत्रों वाले यज्ञोपवीत को धारण करना अपरिहार्य माना है। क्योंकि यह देवपूजा के लिए धारण किया यज्ञोपवीत यह स्मरण कराता है कि हे मानव ! जिन देवों की कृपा से तुझे मानव-जीवन मिला है, उनके उपकारों का स्मरण सदा करते हुए उनके प्रति अपने कर्त्तव्य को कभी भुलाना नहीं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणः। (तै० संहिता ६।३।१०।५)

अर्थात् जैसे ही मनुष्य कर्त्तव्य करने के योग्य बनता है, वैसे ही वह तीन ऋण, वाला हो जाता है— ऋषि-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण। और ऋणी व्यक्ति तब तक सुखी नहीं हो सकता, जब तक वह ऋणों से मुक्त न हो। ऋषियों के दो भेद हैं एक परमपिता परमात्मा, उसके ऋण से छूटने के लिए ब्रह्म=परमात्मा की भक्ति, ब्रह्म=वेदविद्या का अध्ययन तथा ब्रह्म=वीर्यरक्षादि संयम नियमों का पालन करके आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक बलों से सम्पन्न होना है। और दूसरे वे गुरुजन ऋषि हैं, जिन्होंने सतत साधना करके हमें वेदज्ञान और विज्ञान का प्रकाश दिया है, उन आचार्य जनों की आज्ञाओं का पालन करना और उनके प्रकाश को दूसरों तक पहुंचाना यह ऋषि-ऋण से छूटने का उपाय है। और दूसरा देव-ऋण है उससे छूटने का उपाय यज्ञ है। ये देव भी दो प्रकार के हैं- जड़ और चेतन। प्रति दिन यज्ञ के द्वारा वायु, जलादि को शुद्ध रखना, उन्हें अपवित्र न होने देना और जो विद्वान् गुरुजन हैं, उनकी तन मन धन से शुश्रूषा, यज्ञादि के समय उन्हें उचित सम्मान देना और विद्वान् अतिथियों की अतिथियज्ञ के माध्यम से सेवा करना यह देव-ऋण से छूटने का उपाय है। और पितृ-ऋण से छूटने के लिए माता-पिता के उपकार को सदा स्मरण करते हुए उनको किसी प्रकार का कष्ट न होने देना और अपनी सन्तान को भी विद्यादि गुणों से सम्पन्न बनाकर अपने वंश को उन्नत करना। इन तीनों ऋणों का सूचक यह यज्ञोपवीत है। ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ करने के लिए इस त्रिसूत्रात्मक यज्ञोपवीत को धारण किया गया है। इसी देवपूजा के साथ यज्ञ के संगतिकरण सामाजिक, पारिवारिक एवं राष्ट्रिय संघटनात्मक जो नियम बने हों, उनका यथाशक्ति पालन करना और विघटन करने वाले कार्यों से सदा बचना तथा दान=(स्वार्थवृत्ति एक राक्षसी वृत्ति है, उसका परित्याग करके परोपकार, विश्वबन्धुत्व की भावना से विद्वान् हो तो दूसरों को) विद्यादान करें, बलवान् हो तो दूसरों की रक्षा करे और धनवान् हो तो याज्ञिक कार्यों में धन का दान करता रहे। यज्ञ के (देवपूजा, संगतिकरण, दान) तीनों अर्थों पर ध्यान दिलाने के लिए यह यज्ञोपवीत धारण किया जाता है।

(२) परमं पवित्रम्— पवित्र शब्द का अर्थ है-पूयतेऽनेनेति पवित्रम्। अर्थात् पवित्र करने वाले क्या क्या साधन हैं, इस बात को सदा स्मरण कराने से इसे परम पवित्र कहा है। पवित्रता का अभिप्राय है-बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि। प्रतिदिन स्नानादि से बाह्यशुद्धि तथा प्रातः-सायं सन्ध्या करने से आन्तरिक शुद्धि करनी चाहिये। महर्षि मनु कहते हैं—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥
(मनु० ५।१०९)

अर्थात् इस भौतिक शरीर के प्रत्येक छिद्र से किसी न किसी प्रकार मल निकलता है, अतः शारीरिक शुद्धि स्नानादि से प्रतिदिन अवश्य करें। और इस शरीररूपी रथ का सारथी मन है, वह शुद्ध पवित्र नहीं होगा तो वह सदा ही कुमार्ग पर चलायेगा। इसकी शुद्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाह्यशुद्धि की अपेक्षा अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि जब तक यह मन अपवित्र है, तब तक वेदादि पढ़ना और यज्ञों का करना भी फलप्रद नहीं हो सकता है। जैसे कि कहा है–

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥
(मनु॰ २। ९७)

अर्थात् जिसका मन अपवित्र है, उसका वेद पढ़ना, त्याग करना, यज्ञ करना, नियमों का पालन करना और तप=कठोर साधना करना भी सिद्धि को प्राप्त नहीं कराते। इसलिए मन को सत्याचरण से प्रतिदिन शुद्ध किया कर। ब्राह्मणग्रन्थों में सबसे बड़ी अपवित्रता असत्याचरण को ही माना है– **अमेध्यो वै पुरुषो यदेष अनृतं वदति।'** और सत्य क्या है? यह बहुत ही गूढ़ भावों का प्रकाशक शब्द है। **इस का प्रथम अर्थ है**–सत्सु सतोगुणेषु भवं सत्यम्=सतोगुणी भोजन। 'जैसा खाये अन्न वैसा बने मन' यह लोक प्रसिद्ध कहावत है। मन को शुद्ध रखने के लिए सदा ही सात्त्विक भोजन करना और तामसिक, राजसिक भोजन का सर्वदा त्याग करना। और जो अभक्ष्य पदार्थ हैं–मद्य, मांस अण्डे आदि इनको तो कभी भूलकर भी न खाना। क्योंकि ये राक्षसी भोजन हैं, इन से सब से प्रथम मन व बुद्धि ही विकृत होते हैं। छान्दोग्योप निषद् में भी कहा है–'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' अर्थात् शुद्ध आहार जो कि मद्य-मांसादिरहित घृत, दुग्धादि, चावल, गेहूँ आदि के खाने से अन्तःकरण की शुद्धि, बल, पुरुषार्थ, आरोग्य और बुद्धि की प्राप्ति होती है। (सं॰ वि॰ गर्भा॰)

'सत्य' शब्द का दूसरा अर्थ है–सत्सु विद्यमानपदार्थेषु भवं सत्यम्। अर्थात् जो सृष्टि के कण-कण में सदा विद्यमान है और मनुष्यों के मनों में भी विद्यमान रहकर मानव के शुभाशुभ कर्मों को जानकर तदनुसार कर्मफल की व्यवस्था कर रहा है, उसको सदा साक्षीभाव से स्मरण रखना और उसके अटल न्याय को याद रखना। इस परम-सत्ता को स्मरण करने से मनुष्य अपने को कभी अकेला नहीं पाता और अकेला न होने से वह पाप-भावनाओं से बच जाता है। प्रातः और सायं सन्ध्या करने का भी उद्देश्य यही है कि हम दोनों सन्ध्याकालों में पवित्र एकान्त स्थान पर शान्ति से बैठकर आत्मनिरीक्षण करें कि हमने आज कोई बुरा कर्म तो नहीं किया है? और यदि जाने व अनजाने हो गया है तो उसका प्रायश्चित्त करके उसका प्रतिरोध करें कि जिस से उसका हमारे पर प्रभाव न हो सके। इसीलिए मनु जी कहते हैं–

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥
(मनु॰ २। १०२)

अर्थात् प्रातःकालीन सन्ध्या करने से रात्रिकालीन मानसिक मलीनता नष्ट हो जाती है और सायंकालीन सन्ध्या करने से दिनभर के मानसिक दोष दूर हो जाते हैं। यद्यपि दोष या मलिनता प्रथम स्तर पर अधिक प्रभावोत्पादक नहीं होती, किन्तु मन को शुद्ध रखने वाले साधक को वस्त्र में आने वाले सूक्ष्ममलों की भांति मानसिक सूक्ष्ममलों को भी परमेश्वर-भक्तिरूपी पावन साबुन से प्रतिदिन धोते रहना चाहिये।

सत्य शब्द का तीसरा अर्थ है–सत्सु सज्जनपुरुषेषु भवं सत्यम्। अथवा सत्सु साधु सत्यम्। अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों में जो शिष्टाचार है, उससे मन को शुद्ध रखना और अशिष्ट व्यवहारों के मूल कारण काम, क्रोध तथा लोभवृत्तियों से अपनी सदा रक्षा करना। मन के विषय में जो यह कहा जाता है कि **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** मन ही बन्धन तथा मोक्ष का कारण है, यह सत्य ही कहा है। जब तक मन में काम, क्रोध तथा लोभ का साम्राज्य रहता है, वह किसी प्रकार भी शुद्ध न होने से किसी प्रकार का सुख प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि ये तीनों ही नरक=दुःखों के साक्षात् द्वार हैं। जैसा कि गीता में कहा है–

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥

अर्थात् काम, क्रोध तथा लोभ समस्त पापों की जड़ हैं, अतः आत्मा का नाश करने वाले हैं। इस लिए इनका सर्वथा परित्याग करने से मन पवित्र होता है। इन आसुरी वृत्तियों से बचने के लिए ही निम्न श्लोक में उपाय बताये गये हैं

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ॥

अर्थात् कामवृत्ति से बचने के लिए सर्वोत्तम उपाय है– परस्त्रियों पर मातृवत्=माता की तरह पवित्र दृष्टि रखना। मातृवत् दृष्टि रखने से न केवल अपनी कामवृत्ति का शमन होता है, प्रत्युत दूसरों पर भी प्रभाव पड़ता है। महर्षि दयानन्द के जीवन की सत्य घटना का इसमें ज्वलन्त उदाहरण मिलता है। मथुरा के कुछ विरोधियों ने ऋषि दयानन्द को मारने का एक बार षड्यन्त्र बनाकर एक नवयुवती वेश्या को ऋषि के पास एकान्त में भेजा और स्वयं धूर्त्त लोग छिपकर बैठ गये। वह वेश्या धीरे-धीरे भगवान् की भक्ति में बैठे ऋषि के पास पहुँची। महर्षि ने पैरों की आहट सुनकर जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आंखें खोलीं तो देखा कि सामने एक नवयुवती खड़ी है। यद्यपि उस वेश्या की निष्कलंक तेजस्वी ऋषि के चेहरे को देखकर ही भावनाएँ बदल गई थीं कि मैं कैसी पापिनी हूँ कि एक निष्पाप आत्मा को बदनाम करने के लिए कुछ पैसों के लोभ में उद्यत हो गई और फिर ऋषि के मुख से–माता जी तुम यहाँ कैसे आई हो, इन पवित्रभावों से पूर्ण शब्दों को सुनकर वह वेश्या अपने कलुषित मन को प्रायश्चित्त की अग्नि में जलाती हुई क्षमा मांगने लगी। यह परस्त्रियों पर मातृवत् भावना का ही प्रभाव था। और लोभवृत्ति=दूसरों के द्रव्यों में अपनत्व बुद्धि करके उनको हड़पने के लिए येन केन प्रकारेण छल-कपट करने के लिए उद्यत होना है। इस वृत्ति को जीतने के लिए दूसरों के पदार्थों पर मिट्टी के ढेले के समान अपरिग्रह वृत्ति करनी होती है। और 'लोभमूलानि पापानि' के अनुसार लोभमूलक रिश्वतखोरी, चोरी आदि पापों से बच जाता है। और क्रोध (कामात् क्रोधोऽभिजायते) इच्छा के विघात से क्रोध पैदा होता है। अपने से कोई त्रुटि हो जाय अथवा किसी प्रकार की हानि हो जाये तो क्रोध नहीं होता, किन्तु दूसरे से हो जाये तो इच्छापूर्त्ति न होने अथवा इच्छा में विघात होने पर क्रोध पैदा हो जाता है। इस वृत्ति को जीतने के लिए सब प्राणियों के प्रति आत्मवत् भावना रखनी चाहिये। इससे क्रोध-शत्रु पर विजय प्राप्त हो सकेगी और मानसिक अशुद्धि नहीं हो सकेगी।

प्राचीन काल में जब विद्यार्थी आचार्य के पास विद्या ग्रहण करने के लिए जाता था तो वे सब से प्रथम (शौचं शिक्षयेदादौ) शुद्धि=मन को पवित्र करने के लिए जो ईश्वरभक्ति, शिष्टाचार तथा धार्मिक शिक्षा देते थे। इसी का नाम दीक्षा होता था। दीक्षा के बिना शिक्षा नहीं देते थे। क्योंकि गन्दे पात्र में पवित्र वस्तु को रखने से पवित्र वस्तु भी पवित्र नहीं रह सकती। विद्या तो परम पवित्र है, उसको अपवित्र मन वाले छात्र को कैसे दिया जा सकता था? इससे विद्या की पवित्रता के साथ विद्या की सार्थकता एवं सफलता भी होती थी। निरुक्त में विद्यार्थी की योग्यता का मापदण्ड बताते हुए एक आलंकारिक वर्णन के द्वारा यह बात समझायी गई है–

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम् ।। १ ।।

अर्थात् विद्या विद्वान् ब्राह्मण के पास जाकर कहने लगी–हे विद्वन्! मैं तुम्हारा खजाना हूँ, तुम मेरी रक्षा करो, और रक्षा का उपाय यह है कि जो असूयक=गुणों में दोषवृत्ति रखता है, अनृजु=कुटिल स्वभाव का और अजितेन्द्रिय है, उस को मुझे मत देना अर्थात् ऐसे मलिन अन्तःकरण वाले छात्र को विद्या नहीं पढ़ाना।

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ।। २ ।।

अर्थात् जो विद्यार्थी पवित्रान्तःकरण वाला, व्रतों के पालने में प्रमाद न करने वाला, मेधावी, ब्रह्मचर्य-नियम को पालने वाला तथा द्रोहबुद्धि न रखता हो, उसे विद्या पढ़ानी चाहिये। अतः शिक्षा से पूर्व दीक्षा का होना परमावश्यक है। और जैसे मन इस शरीर रूपी रथ का सारथी है, वैसे इस में इन्द्रियां घोड़ों के समान हैं इन्हीं के माध्यम से बाह्य-ज्ञान होता है। यद्यपि ये इन्द्रियाँ मन के बिना कार्य नहीं कर सकतीं, मन के संयोग होने पर ही ये अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं, पुनरपि इन्द्रियों का पवित्र करना आवश्यक है। यदि रथ के घोड़े प्रशिक्षित नहीं होंगे, तो भी कितना ही अच्छा सारथी हो, वह भी धोखा खा जाता है। इन्द्रियों की पवित्रता के लिए ही सन्ध्या में इन्द्रिय-स्पर्श तथा मार्जन मन्त्रों का विनियोग किया गया है। जहाँ इन्द्रियों के अपने-अपने जो विषय हैं, उन पर संयम करना आवश्यक है, वहाँ इन्द्रियों के दोषों को धोने के लिए प्राणायाम करना अत्यन्त आवश्यक है। महर्षि मनु कहते हैं–

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ।।
(६।७१)

अर्थात् जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम के द्वारा प्राणों का निग्रह करने से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं और प्राणायाम को (मनु॰ ६।७०) परम तप माना है।

और मनु जी ने पवित्रता के विषय में आगे लिखा है–विद्या और तप अर्थात् सब प्रकार के कष्टों को सह के भी धर्म के अनुष्ठान से जीवात्मा पवित्र होता है। इस शरीर-रथ का स्वामी जीवात्मा है, उसी को इस शरीररूपी रथ के द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करना है। लक्ष्य-प्राप्ति के लिए जहाँ मन आदि की शुद्धि आवश्यक है, वहाँ आत्मा की पवित्रता भी आवश्यक है। यह जीवात्मा एक अमरणधर्मा चेतनतत्त्व है। ज्ञान और प्रयत्न उसके स्वाभाविक गुण हैं, इनकी पवित्रता के लिए ही परमेश्वर ने वेद का ज्ञान मानव को दिया है। जैसे नेत्रादि इन्द्रियों की सहायता के लिए सूर्यादि को परमेश्वर ने बनाया है, वैसे ही परमगुरु परमेश्वर ने जीवात्मा के ज्ञान के विकास के लिए वेदों का उपदेश किया है। वेद के सत्य ज्ञान को प्राप्त करने से जीवात्मा मिथ्या ज्ञान अथवा अज्ञान से वैसे ही पृथक् हो जाता है, जैसे सूर्य के प्रकाश होने पर अन्धकार में होने वाली भ्रान्तियां स्वतः नष्ट हो जाती हैं। इसलिए ही यह कहा गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है **'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'** ज्ञान के समान पवित्र कोई वस्तु नहीं है। और पवित्रतम ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही यह पवित्र यज्ञोपवीत आचार्य प्रदान करता है। इसलिए इसे 'विद्यासूत्र' भी कहते हैं, इसको धारण करने के बाद ही मनुष्य का दूसरा जन्म होता है और वह 'द्विज' कहलाने का अधिकार प्राप्त करता है।

योगदर्शन में कहा है—'अविद्या नेत्री सर्वक्लेशानाम्।' अविद्या समस्त क्लेशों (दुःखों) की जन्मदात्री होने से क्लेशों की नेत्री अगवानी करती है। मानों अविद्या के पीछे समस्त क्लेश छिपे हुए होते हैं। इस के विपरीत विद्या से सब क्लेशों की समूल निवृत्ति होती है। यज्ञोपवीत संस्कार को उपनयन भी कहते हैं। इस शब्द का अर्थ लोक में चश्मे के लिए प्रसिद्ध है और चश्मा किस के लिए आवश्यक है? जिसकी आंखें ठीक हैं, उसे चश्मे की आवश्यकता नहीं है और जो बिल्कुल ही अन्धा है, उसे भी चश्मा लगाने से कोई लाभ नहीं है। किन्तु जिसे कम दिखाई देता है, उसे इसकी आवश्यकता है। इसी प्रकार अल्पज्ञ जीवों को निर्भ्रान्त ज्ञान प्राप्त हो सके, एतदर्थ उपनयन संस्कार कराया जाता है, जिसका प्रतीक यह सूत्र धारण कराया जाता है। इस सूत्र के तीनों धागे जैसे ऊपर तीनों ऋणों से अनृण होने के सूचक थे वैसे ही विद्या के क्षेत्र में त्रिविध ज्ञान—ज्ञान, कर्म, उपासना अथवा आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक त्रिविध दुःखों से मुक्त होने के लिए त्रिविध ज्ञान प्राप्ति के ये प्रतीक चिह्न हैं। प्राचीन काल में जब ब्रह्मचारी गुरुकुल में जाता था तो वह समित्पाणि=तीन समिधाएँ लेकर जाता था। वे भी इसी भाव को बोध कराने वाली होती थीं। और विद्या के साथ तप=धर्मानुष्ठान को भी महर्षि मनु ने इसीलिए आवश्यक माना है कि तप के विना विद्या की सफलता नहीं होती। अथवा यह कहना चाहिये कि ज्ञान और तदनुकूल आचरण करने से ही विद्या का लाभ प्राप्त होता है, जिसके बिना मनुष्य पशु के तुल्य ही रहता है। अतः संस्कृत में नीतिकार कहते हैं—

न विद्यया विना सौख्यं नराणां जायते ध्रुवम् ।।

अर्थात् विद्या और तप के अनुष्ठान के बिना जीवात्मा की शुद्धि नहीं होती और अशुद्ध जीवों को सुख की प्राप्ति नहीं होती। इसके आगे मनुजी ने लिखा है **बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति** =अन्तःकरण की निश्चयात्मक वृत्ति को बुद्धि कहते हैं, और ज्ञान का यहाँ 'विवेक' अर्थ है। महर्षि दयानन्द ने इस वाक्य का अर्थ करते हुए लिखा है—'ज्ञान अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि दृढ़ निश्चय पवित्र होते हैं।' (स॰ प्र॰) जहाँ वेद में मन को 'सुषारथिः' कहा है, वहाँ उपनिषदों में कुछ भेद से कहा है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुः।। (कठोपनिषद्)

अर्थात् इस शरीररूपी रथ का स्वामी जीवात्मा है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है और इन्द्रियां घोड़े हैं। महर्षि मनु ने सब की शुद्धि के पृथक्-पृथक् उपाय बताये हैं। बुद्धि की शुद्धि ज्ञान=विवेक से बताई है। इस विवेक को समझने के लिए प्रथम विवेक का महत्त्व जानना परमावश्यक है। एक संस्कृत के कवि ने लिखा है—

यौवनमर्थसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्।।

अर्थात् युवावस्था, धनदौलत, उन्नत पद की प्राप्ति और विवेक का अभाव, इन में से एक-एक भी अनर्थ का कारण होता है। किन्तु जिस व्यक्ति में ये चारों हों उसका क्या हाल होता होगा? यहाँ विचारणीय यह है कि मानव-जीवन में युवावस्था सर्वोत्तम अवस्था है। क्योंकि बुढ़ापे में शरीर निर्बल शिथिल हो जाता है, और बाल्यावस्था नादानी होती है। किन्तु कवि ने उसे अनर्थ का कारण बताया है। धन के बिना भी शुभ कार्य सम्पन्न नहीं होते हैं, उन्नत पद को प्राप्त करना भी उन्नति का सूचक है। किन्तु इन तीनों में एक प्रकार का मद= नशा होता है, युवावस्था, धन तथा उन्नतपद प्राप्ति में अहंकार का नशा सब से बड़ा होता है, जिस के कारण मनुष्य इन का दुरुपयोग कर सकता है। अविवेक तो है ही अनर्थ का कारण। यदि इन चारों में से अविवेक को विवेक में बदल दिया जाये तो युवावस्था, धन एवम् उन्नत पद तीनों ही हितकारक हो जाते हैं। विवेक का अभिप्राय है कि प्रत्येक पदार्थ के यथार्थस्वरूप का बोध होना। यह ज्ञान की सर्वोत्कृष्टावस्था का नाम है। प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा के विवेक-ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। इस ज्ञान के प्राप्त होने पर मनुष्य अकुतोभय होकर परम लक्ष्य की ओर निर्बाध रूप से बढ़ता रहता है। उसे संसार के काञ्चनकामिनी सदृश भयंकर प्रलोभन भी आकृष्ट नहीं कर सकते। ऋषि दयानन्द सदृश महात्माओं की पद-पद पर सुरक्षा इस विवेक ज्ञान ने ही की थी। जिस के प्रकाश से प्रकाशमान दिव्यात्मा ने ब्रिटिश सरकार का भी कभी भय नहीं माना, एकलिंगेश्वर की लाखों रुपये की गद्दी का प्रलोभन और रूपवती वेश्याओं के जटिल-पाशों से अपनी सदा सुरक्षा की।

इस प्रकार यज्ञोपवीत-मन्त्र का 'परमं पवित्रम्' विशेषण आत्मा, शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों की सर्वविध पवित्रता का संकेत करता है। इसके धारण करने वालों को प्रतिक्षण यह ध्यान रखना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिये कि मैंने परमपवित्र यह सूत्र धारण किया है, इस की प्रतिष्ठा का ध्यान रखते हुए मुझे उपर्युक्त मनुप्रोक्त पवित्रता करने वाले समस्त साधनों को अपने जीवन में अपनाना चाहिये। इस यज्ञ-सूत्र की पवित्रता का रहस्य तब और भी अधिक बढ़ जाता है, जबकि इसकी उपमा गर्भावस्था के उपवीत से की जाती है इस विषय में श्री स्वामी दीक्षानन्द जी महाराज लिखते हैं (क) 'यज्ञोपवीत का वास्तविक रहस्य जानने के लिए परिवीत और उपवीत शब्दों के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। परिवीत उस वस्त्र को कहते हैं जो सारे शरीर को ढकने के लिए पूरी तरह लपेट लिया जाता है और उपवीत उस वृत्त घेरे को कहते हैं जो विशेष स्थान पर से होकर गुजरता है।----जो वाम कन्धे पर से डाला गया हृदय, नाभि पर से होता हुआ दक्षिण भाग में दक्षिण मुष्टि में आ जाता है, इसलिये उपवीत वह वृत्त है। (ख) 'गर्भभूत जीव जिस अन्तः यज्ञोपवीत को धारण किये होता है, वह ऐसा पवित्र होता है कि जिसमें से माता के द्वारा खाये, पीए और चाटे हुए आहार से बना हुआ रस छन-छनकर जाता है। रक्त छन-छनकर जाता है। प्राणों का आदान-प्रदान भी इसी पवित्रा के द्वारा होता है। यदि यह पवित्रा (छाननी) न हो तो जीव को किसी प्रकार भी शुद्ध रक्त, शुद्ध रस वा शुद्ध प्राण की उपलब्धि न हो सके।' (उपनयन सर्वस्व)

इस से स्पष्ट है कि यह बाह्य यज्ञोपवीत भी गर्भस्थ छाननी की भांति ही है। जब तक आर्य संस्कृति में इस की प्रधानता रही और इस का मूल्यांकन ठीक रूप से होता रहा, तब तक मानव मानव ही नहीं, प्रत्युत देव, ऋषि तथा पितर बना रहा और जैसे-जैसे इसकी उपेक्षा होने लगी, वैसे-वैसे मानव मानवीय पवित्रता के गुणों से पृथक् हो कर दानव बनता जा रहा है। पौराणिक बन्धु इस की वास्तविक पवित्रता को छोड़कर बाह्य दिखावे तक ही सीमित रहने लगे हैं। अन्यथा यज्ञोपवीत तो पवित्र छाननी है, इसको धारण करने वाले की पवित्रता दूर से ही स्पष्ट दिखाई देने लगती है। वह सदाचारी होने से नीरोग, सबल एवं स्वस्थ होगा, उस की वाणी में मधुरता, सत्यता एवं सर्वहित की भावना होगी, उसका मन पवित्र होने से मन, वचन कर्म से चोरी-जारी से सर्वथा पृथक् होगा। वह भगवान् का सच्चा उपासक होने से परमेश्वर के गुणों से सुवासित होगा। जैसे-सुगन्धित फूल की गन्ध दूर से ही आ जाती है, इसी प्रकार ईश्वरीय गुणों (न्याय, शुद्धि, दया हितभावनादि) का उस व्यक्ति में स्वतः ही आभास होने लगता है। और यह पवित्रता इस जन्म में ही नहीं, अगले जन्मों में भी बनी रहती है महर्षि मनु लिखते हैं—

ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥

(मनु॰ २। १४६)

जिस का यज्ञोपवीत संस्कार हो जाता है, उस का ब्रह्म=ज्ञान का दूसरा जन्म हो जाता है और इस संस्कार से मिलने वाली पवित्रता इस जन्म तथा दूसरे जन्मों में भी स्थिर रहती है। क्योंकि मनुष्य की वास्तविक सम्पत्ति तो यही है, जो उस के साथ जन्म जन्मान्तरों में भी जाती है। मनुष्य का यह भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है, मन बुद्धि आदि घटकों वाला सूक्ष्म शरीर जीवात्मा के साथ परजन्म में भी जाता है, और इनकी पवित्रता अथवा पवित्र संस्कारों की सम्पत्ति साथ अवश्य जायेगी। इस प्रकार वैदिक-संस्कृति की समस्त उदात्त भावनाओं से ओत-प्रोत इस पवित्र व्रत-सूत्र का मानवमात्र को फिर से अधिकार दिलाने वाले महर्षि दयानन्द के हम अत्यधिक आभारी हैं कि जिन्होंने एक वर्ग विशेष के एकाधिपत्यपूर्ण कब्जे से मुक्ति दिलाकर इस सूत्र के धारण कराने का पूर्ण अधिकार मानव मात्र को दिया है।

(३) **प्रजापतेर्यत्**—यह यज्ञोपवीत प्रजापति=परमात्मा के सम्बन्ध का बोधक है। समस्त जीवात्मा परमात्मा की प्रजाएँ हैं, और परमात्मा सबका पालक है। उस ने सांसारिक व्यवस्था को चलाने के लिए इस व्रत-सूत्र का विधान किया है। मनुष्यों में अविद्या, अन्याय तथा अभाव ये तीन महान् दुःख हैं, इनसे बचने के लिए अथवा इन दुःखों को दूर करने के लिए वर्णव्यवस्था का विधान (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्॰) इत्यादि मन्त्रों के द्वारा प्रभु ने किया है। प्रभु के बनाये इस भौतिक शरीर में वर्ण व्यवस्था का बहुत ही उत्तम विधान है। शरीर में जो मुख है उसमें ज्ञानेन्द्रियों का समावेश किया है, और वह ज्ञान का केन्द्र होने से ब्राह्मण है। और भुजाएँ क्षत्रिय के समान हैं, ये शरीर की रक्षा करती हैं और उदर वैश्य है, जिसमें समस्त खाद्यपदार्थों का संग्रह होने पर भी वह समस्त शरीर को बिना किसी भेदभाव के पौष्टिक तत्त्वों का वितरण कर देता है। और पैर शूद्र की भांति सेवा करते हैं। ठीक यही व्यवस्था राष्ट्रीय-जीवन के लिए आवश्यक है। और उसका परिचायक चिह्न यह यज्ञोपवीत है। इसको धारण करने वाला गुण, कर्म तथा स्वभावानुसार द्विज=दूसरा जन्म धारण करता है। और जो ब्राह्मणादि द्विजों में दीक्षित नहीं हो सकता है, वह शूद्र कहलाता है, जन्म से नहीं। यज्ञोपवीत धारण करने के मन्त्र में सन्निहित इसी भाव को मनुस्मृति में देखा जा सकता है

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत् ॥

(मनु॰ १। ८७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् उस महान् व्यवस्थापक परमात्मा ने समस्त संसार की सुरक्षा, सुव्यवस्था तथा समृद्धि के लिए शरीरस्थ मुख, बाहु, उरु, पैर, इन अंगों की उपमा से ब्राह्मणादि वर्णों के कर्मों का विधान किया है। वर्तमान काल में वर्णव्यवस्था का जन्ममूलक प्रचलन होने से यह मानव-समाज को समृद्ध न करके विघटन की ओर ले जा रही है। किन्तु यह तो समाज व प्रशासकों का दोष है कि वे उत्तम व्यवस्था को नहीं चला रहे हैं। इसमें प्राचीन वेदोक्त विधान का दोष नहीं है। यज्ञोपवीत के धारण करने वालों को परमात्मा के विधान में अटूट विश्वास करके समस्त उन्नतियों की मूल वर्णव्यवस्था को गुणकर्मस्वभावानुसार चलाना व मानना चाहिये।

(४) **सहजं पुरस्तात्**—यह यज्ञोपवीत मानव को द्विज बनाकर कैसे रक्षा करता है? और कैसे आगे बढ़ाता है? इसको मन्त्र में परमात्मा के बनाये प्रथम जन्म से समझाया गया है। इस द्विज=दूसरे जन्म से पुरस्तात्=पहले जो भौतिक शरीर हमें मिला है इसकी रचना की ओर ये शब्द संकेत कर रहे हैं। क्योंकि शरीर-रचना के समय त्रुटि हो जाये तो यावज्जीवन उसका दण्ड भुगतना पड़ता है। एतदर्थ गर्भकाल में भी परमात्मा ने जीवात्मा का शरीर से सम्पर्क होते ही एक उपवीत धारण कराया था। जैसे वह उपवीत जीवन-रक्षक बनकर शरीर की रचना में सहज=स्वाभाविक रूप में सहायक बना था, वैसे ही यह बाह्य सूत्र भी उन्नति में सहायक बनना चाहिये। इस विषय में आयुर्वेद का प्रमाण देकर श्री स्वामी दीक्षानन्द जी ने इस रहस्य को बहुत अच्छी प्रकार स्पष्ट किया है। उन्हीं के लेख को उद्धृत किया जाता है—'मातृ उदर में आया हुआ गर्भ एक ऐसे वस्त्र से ढका रहता है जिसे जरायु कहते हैं। वह सर्वथा उसी रूप में होता है जैसे अण्डे का ऊपर का खोल। परन्तु उस खोल के मध्य गर्भ-परिपाक के लिए बन्धन के जिन अन्तः सूत्रों से बने वृत्त की आवश्यकता है, वही अन्तः उपवीत है। बिना उन अन्तः सूत्रों के गर्भ को रस, प्राण और ओज नहीं पहुँचता। परमात्मा द्वारा यह इतना उत्तम प्रबन्ध है----। आचार्य चरक ने उन अन्तः सूत्रों का पता लगाया था **'मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाडी प्रतिबद्धा भवति साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति।'** (सुश्रुत॰ ३६)

निश्चय ही माता की रसवाही नाड़ी से गर्भनाड़ी प्रतिबद्ध होती है, वह नाड़ी ही माता के खाए हुए आहार रस और शक्ति को ले जाती है (तेन) उस (उपस्नेहेन) उपस्नेह से ही गर्भ की अभिवृद्धि होती है।' (उपनयन सर्वस्व)

आयुष्यम् जैसे मातृ-गर्भस्थ शिशु के जीवन की रक्षा अन्तःयज्ञोपवीत अथवा रस पहुँचाने वाली नाड़ी से होती है, यदि किसी त्रुटि से उसका संपर्क न रहे तो गर्भस्थ शिशु का जीवन समाप्त हो जाता है ठीक वैसे ही यह बाह्य यज्ञोपवीत भी आयु का कारण है। आयु का अर्थ प्राणधारण करना है और **'आयुषो निमित्तम् आयुष्यम्'** (गोद्व्यचो॰ अ॰ ५।१।३९ सूत्र से यत्) आयु के जो निमित्त[1] कारण हैं उन्हें आयुष्य कहते हैं। यद्यपि यज्ञोपवीत सूत्र को जो धारण कर लेता है, और इसके द्वारा सांकेतिक कर्त्तव्यों को नहीं करता, उसकी आयु कैसे बढ़ सकती है? किन्तु इस सूत्र के जो कर्त्तव्य प्रथम दिखाए गये हैं, उनके पालन करने से ही आयु अवश्य बढ़ती है। इसमें धर्म शास्त्र के प्रमाण देखिये (क) आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ॥ (४। १५६)

(ख) ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः। (४। ९४)

(ग) दुराचारो हि पुरुषो---अल्पायुरेव च॥ (४। १५७)

(घ) सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः।
श्रद्दधानोऽनुसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥ (४। १५८)

अर्थात्-सदाचार (धर्मानुष्ठान) से दीर्घायु और उत्तम सन्तान प्राप्त होती है। ऋषि-मुनियों ने लम्बे समय तक सन्ध्योपासना करके दीर्घ जीवन प्राप्त किया। और जो सदाचार से हीन हो जाता है, वह रोगों से पीड़ित होकर अल्पायु हो जाता है।

(६) **अग्र्यम्**—अग्रे भवम् अग्र्यम्। यह यज्ञोपवीत जीवन में उन्नति,[2] यश, अग्रणी तथा उत्तम सुखों को प्राप्त कराता है। जो व्यक्ति मन, वचन, कर्म में एकरूपता रखता है, परमात्मा का सच्चा भक्त है, स्वार्थवृत्ति का त्याग कर याज्ञिक कार्यों में बढ़-चढ़कर भाग लेता है, विद्वान् और धर्मात्मा है, वह सदा ही व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में अग्रणी बनकर एवं रोगादि से मुक्त होने से स्वस्थ रह कर उत्तम सुखों को प्राप्त करता है।

(७) **प्रतिमुञ्च शुभ्रम्**—वैदिकभाषा में उत्तम कर्मों को शुभ्र शब्द से अथवा शुक्ल शब्द से कहा गया है। और मुञ्च का अर्थ है छोड़ना, इससे पूर्व प्रति उपसर्ग धात्वर्थ के विलोम अर्थ को

---

१. व्याकरण महाभाष्य में लिखा है-आयुर्वै घृतम्। आयुषो निमित्तमिति गम्यते।

२. अग्र शब्द के अर्थ देखिये (महर्षि भाष्य में) उपरि भावं यशः (ऋ॰ ४।१३।१) उत्तमसुखम् (य॰ १३।५१) प्रथमम् (ऋ॰ ४।२७।५) अग्रे भवाय सत्कर्मसु पुरस्सराय (य॰ १६।३०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्योतित करता है। छोड़ने का विलोम अर्थ ग्रहण करना है। जो शुभ्र=शुभकर्म अथवा सत्य बातें हों, उनको सदा ग्रहण करना चाहिये, इस भाव को ये शब्द बता रहे हैं। वैदिक संस्कृति का मूल मन्त्र है 'सत्यमेव जयते' 'सत्येन पन्था विततो देवयानः।' (उपनिषद्) अर्थात् सत्य की सदा विजय होती है। विद्वानों का मार्ग सत्य से ओतप्रोत होता है। महर्षि दयानन्द ने मन्त्रोक्त इन्हीं भावों को आर्यसमाज के निम्न नियमों में अनुस्यूत करते हुए लिखा है

'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।' (चतुर्थ नियम) सत्य को ग्रहण करने की शिक्षा वैदिक संस्कृति की अनुपम देन है। आज दूसरे मत-मतान्तर वालों में कोई भी सार्वभौम शाश्वत सत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है, अन्यथा सत्य तो एक ही होता है, अनेक नहीं। इन नियमों से संसार के समस्त लोग एकमतस्थ हो जावें। सत्य को सब उन्नतियों का मूल मानते हुए ही शास्त्रों में कहा है-

न हि सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम् ॥

अर्थात् सत्य से बड़ा कोई धर्म और असत्य से बड़ा कोई अधर्म नहीं है। मनुष्य जीवन में यदि सत्य गुण को अपना लेता है तो दूसरे गुण भी स्वयं धीरे-धीरे अवश्य आ जायेंगे। और असत्य के ग्रहण करने पर गुण भाग जायेंगे तथा दोष इकट्ठे होने लगेंगे। सत्य मानव को मानव से जोड़ने वाला है और असत्य द्वेष घृणामूलक होने से विघटन कराने वाला है। सत्य को अपनाने से आत्मा व मन में प्रसन्नता होती है, और असत्य से आत्मा का हनन होता है। धर्मशास्त्र में कहा है-

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः॥

(मनु॰ ४। २५५)

अर्थात् जो व्यक्ति सज्जनों के मध्य अन्यथा होते हुए अपने आप को ठीक न बताकर असत्य बताता है वह अपनी आत्मा का हनन करने वाला व्यक्ति चोर और महापाप का भागीदार हो जाता है। यजुर्वेद (४०।३) में ऐसे व्यक्तियों को **'आत्महनो जनाः'** कहा है। यद्यपि आत्मा तो कभी मरता नहीं, किन्तु असत्य को अपनाने से आत्मा में हीनता आती है। और हीनता ही उसकी मृत्यु के समान होती है। यथार्थ में समस्त अज्ञान, मिथ्याज्ञान तथा भ्रान्तियों का निराकरण सत्य के धारण करने से हो जाता है। सत्य एक ऐसे स्वच्छ निर्मुक्त वातावरण को जन्म देता है, जिसमें मानव बन्धनों से मुक्त होने लगता है। इसलिये यह यज्ञोपवीत इस बात का प्रतीक है-सत्य को ग्रहण करना है। चाहे कितनी भी हानि होती हो, स्वार्थ में कितना भी आघात पड़ता हो, पुनरपि असत्य को न तो अपनाना ही है, न असत्य की प्रशंसा करना है और न ही असत्यभाषियों का सहयोग करना है। इस दृढ़ संकल्प को स्मरण कराने के लिए इस व्रतसूत्र को धारण किया जाता है।

(८) **यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः**-यज्ञोपवीत धारण करने का फल जहाँ आयुवृद्धि तथा उत्तम सुखों को प्राप्त करना है, वहाँ यश देने वाला तेजस्वी बल प्राप्त करना भी है। यद्यपि बल शब्द से समस्त शारीरांगों की दृढ़ता व पौष्टिकता का ग्रहण समझा जाता है, किन्तु यहाँ शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक बल का ग्रहण किया गया है। शारीरिक बल तो चोर डकैतों में भी पाया जाता है, किन्तु वह तेजस्वी नहीं होता, उसमें निर्भीकता, निर्दीनतादि गुणों का अभाव होता है। मन्त्र में प्रार्थना की है कि यज्ञोपवीत तेजस्वी बलों को प्रदान करें। जिसका ऐसा प्रताप हो कि रामादि की भांति लाखों वर्षों के बाद भी प्रभाव हीन न हो इसलिए यज्ञोपवीत धारण प्रक्रिया बनाई गई है-इसे बायें कन्धे से हृदय पर होकर कटि पर्यन्त धारण कराया जाता है। स्कन्धों की दृढ़ता उत्तरदायित्व को निभाने में दृढ़ता का सूचक है। हृदय श्रद्धा का सूचक है और कटिभाग पर कटिबद्ध रहने का संकेत है अर्थात् जो श्रद्धा से यज्ञोपवीत के कर्त्तव्यों का पालन करने में यथाशक्ति सदैव तैयार रहता है, उसको सब प्रकार की शक्तियाँ अवश्य प्राप्त होती हैं। उस का आत्मिक बल बढ़ जाता है वह सबल विरोधों से भयभीत नहीं होता, उसका मनोबल इतना बढ़ जाता है कि बड़े से बड़े विघ्न उस के सामने नगण्य होते हैं और वह निर्बाध रूप से साहसपूर्वक कर्त्तव्यपरायण बना रहता है और शरीर में ऐसा सामर्थ्य प्राप्त होता है कि वह कठोर से कठोर प्रतिकूल परिस्थितियों में भी स्वस्थ रहता है, सर्दी, गर्मी का प्रबलतम प्रभाव भी अकिंचन ही रह जाता है।

किन्तु हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि यह व्रतसूत्र राष्ट्रिय-ध्वज की भांति वैदिक संस्कृति का पवित्रतम प्रतीक चिह्न है, यह तब तक अकिञ्चन ही है, जब तक इसके कर्त्तव्यों पर न चला जाये। हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि इस पवित्रतम भावना के सूचक, ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋणों से अनृण होने के प्रेरक, पञ्चयज्ञों के अनुष्ठानपूर्वक अन्तः-बाह्यशुद्धि के मार्गदर्शक, ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति में सत्य के अन्वेषक, मानवोन्नति के मूल कारण वर्णव्यवस्था के निर्देशक तथा शारीरिक, मानसिक, आत्मिक उन्नतियों के प्रकाशक यज्ञोपवीत का धारण प्रत्येक वेदभक्त वैदिक संस्कृति के अनुरागी आर्यपुरुषों को अवश्य करना चाहिये। और इस पवित्र सूत्र के कर्त्तव्यों का पालन करते हुए अपनी संस्कृति की रक्षा करनी चाहिये।

●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar